संवादसेतु

मीडिया का आत्मावलोकन

अंक 18 | पृष्ठ 16 | अक्तूबर, 2018 | नई दिल्ली

आवरण कथा

#youtoo...ब्रूटस

परिप्रेक्ष्य

लोदी मीडिया की ढहती सल्तनत

कला संवाद

आत्मसंधान की भारतीय कला

संपादकीय

संपादक

आशुतोष भटनागर

कार्यकारी-संपादक

डॉ. जयप्रकाश सिंह

उप-संपादक

चन्दन आनन्द

रविंद्र सिंह भड़वाल

ई-मेल :

samvadsetu2011@gmail.com

फेसबुक पेज

@samvadsetu2011

अनुरोध

संवादसेतु की इस पहल पर आपकी टिप्पणी एवं सुझावों का स्वागत है। अपनी टिप्पणी एवं सुझाव कृपया उपरोक्त ई-मेल पर अवश्य भेजे।

'संवादसेतु' मीडिया सरोकारों से जुड़े पत्रकारों की रचनात्मक पहल है। 'संवादसेतु' अपने लेखकों तथा विषय की स्पष्टता के लिए इंटरनेट से ली गई सामग्री के रचनाकारों का भी आभार व्यक्त करता है। इसमें सभी पद अवैतनिक हैं।

अनुक्रम

आवरण कथा

#youtoo...ब्रूटस

(पृष्ठ 4-5-6-7)

परिप्रेक्ष्य

लोदी मीडिया की ढहती सल्तनत

(पृष्ठ 8-9-10)

कला संवाद

आत्मसंधान की भारतीय कला

(पृष्ठ 11-12-13)

पुस्तक समीक्षा

यूरोपीय सच्चाई का भारतीय संस्करण

(पृष्ठ 14)

फिल्म समीक्षा

पटाखा (पृष्ठ 15)

टर्म

डाटा माइनिंग (पृष्ठ 16)

संपादकीय

सूचनाओं की जो धारा बह रही है, उसे स्वस्थ बनाए रखने या सही दिशा में मोड़ने का कार्य नए शब्दों और रूपों को गढ़े बिना नहीं हो सकता। ऐसा नहीं है कि आज का मीडिया यह कार्य कर नहीं रहा है, लेकिन शब्द प्रणयन के उसके तरीके और रूपायित करने की उसकी प्रक्रिया में भारतीय दृष्टि का अकाल स्पष्ट दिखता है। इस अकाल-अभाव के कारण समय-समय पर शब्दों के जरिए भारतीयता आहत होने को अभिशप्त है। अधिकांश मौकों पर आहत होने की यह प्रक्रिया एकतरफा होती है क्योंकि शब्दों का उत्तर शब्दों के जरिए देने का चलन भारतीय मीडिया में अभी जड़ें नहीं जमा सका है...

शब्द और रूप प्रणयन मूलभूत संचारीय कर्म हैं। इनके बिना संचार की प्रक्रिया न तो आगे बढ़ती है और न ही उसमें हस्तक्षेप करना संभव हो पाता है। सूचनाओं की जो धारा बह रही है, उसे स्वस्थ बनाए रखने या सही दिशा में मोड़ने का कार्य नए शब्दों और रूपों को गढ़े बिना नहीं हो सकता। ऐसा नहीं है कि आज का मीडिया यह कार्य कर नहीं रहा है, लेकिन शब्द प्रणयन के उसके तरीके और रूपायित करने की उसकी प्रक्रिया में भारतीय दृष्टि का अकाल स्पष्ट दिखता है।

इस अकाल-अभाव के कारण समय-समय पर शब्दों के जरिए भारतीयता आहत होने को अभिशप्त है। अधिकांश मौकों पर आहत होने की यह प्रक्रिया एकतरफा होती है क्योंकि शब्दों का उत्तर शब्दों के जरिए देने का चलन भारतीय मीडिया में अभी जड़ें नहीं जमा सका है। हाल के दिनों में भारतीय मीडिया में ऐसे ही कुछ शब्दों को स्थापित करने की कोशिशें पूरी ऊर्जा के साथ की जा रही हैं। दु:खद यह है कि इन नए शब्दों का संबंध सच्चाई से अधिक खुद को श्रेष्ठ बताने-साबित करने की फतवाई मानसिकता से है।

वैश्विक स्तर पर राजनीतिक घटनाक्रम जब नया रुख लेता है, तो सत्ता भोगने के अभ्यस्त बुद्धिजीवी 'पोस्ट ट्रुथ' का नारा उछाल देते हैं। यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि सत्य का राज खत्म हो गया है, अब मतदाता सत्योत्तर दौर में, हवाई कल्पनाओं में और अतार्किक मुहावरों में जीने लगे हैं। जबकि सच्चाई यह होती है कि सत्य का राज नहीं, बल्कि कुछ ऐसे लोगों का राज खत्म होता है, जो सत्ता पर अपना नैसर्गिक अधिकार समझते हैं और सच पर अपना कब्जा मानते हैं।

भारतीय मीडिया में भी इस चलन ने पिछले कुछ समय से जोर पकड़ा है। स्वयं को एकमात्र सच बताने की कोशिशें बढ़ रही हैं। उन्हें लगता है कि भारतीय जनमानस इसे स्वीकार कर लेगा। शायद इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि स्वयं की प्रशंसा को भारत एक अवगुण की तरह लेता रहा है और 'अपने मुंह मिया मिट्ठू बनने' को हास्यास्पद मानता रहा है। इस चलन की अस्वीकृति तय है।

फिर भी, नए शब्दों की पड़ताल सजग मीडिया का एक आवश्यक दायित्व तो बन ही जाता है। इसके साथ ही झूठ को आईना दिखाने के लिए नए शब्दों और रूपों को गढ़ने की सामयिक जरूरत से भी बचा नहीं जा सकता। संवादसेतु का यह अंक कुछ नए मीडियाई शब्दों की पड़ताल के साथ मीडिया को नए मुहावरे देने की कोशिश भी है। आशा है आपको यह अंक भी पसंद आएगा। शुभकामना सहित!

- आपका संपादक

आशुतोष भटनागर

सोशल मीडिया पर प्रारंभ हुआ #metoo अभियान महिलाओं की आपबीती बताने का अभियान था, लेकिन इसके गति पकड़ने के साथ ही विश्वसनीयता के संकट से जुड़ा प्रश्न भी बनने लगा। ऐसे लोग भी इस अभियान की चपेट में आने लगे जो स्त्री समानता और स्वतंत्रता के सबसे बड़े पैरोकार के रूप में खुद को दशकों से पेश कर रहे थे...

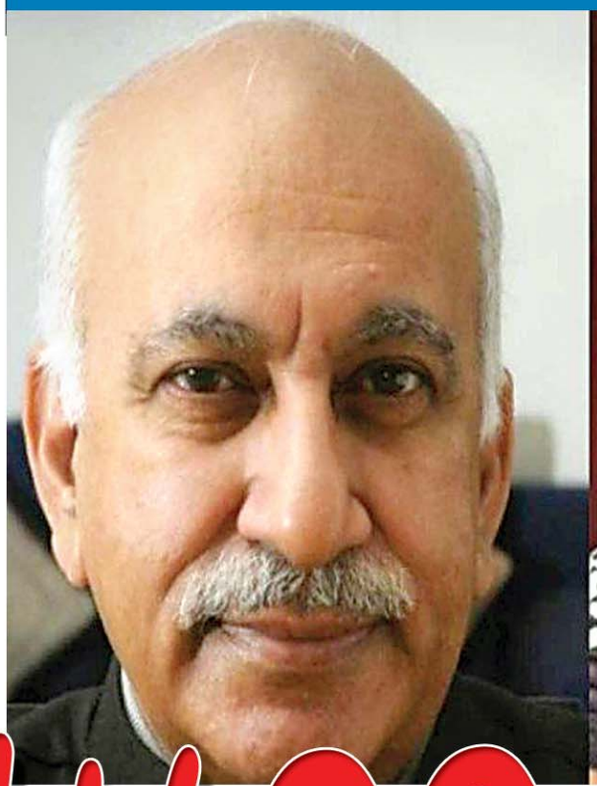

#youtoo...ब्रूटस

❐ **मौनस तलवार**

शेक्सपीयर के नाटक जूलियस सीजर ने एक मुहावरे को काफी प्रसिद्धि दी। जब भी विश्वसनीयता का संकट गहराता है और विश्वासघात की संभावनाएं विस्तार ले लेती हैं तो यह मुहावरा जुबां पर आज भी आ जाता है- et tu, brute (you too brutus)। जूलियस सीजर जब देखता है कि उसकी हत्या करने वालों की मंडली में उसका सर्वाधिक विश्वासपात्र मार्कस जूनियस ब्रूटस भी शामिल है तो उसके मुंह से अचानक निकल पड़ता है- ब्रूटस तुम भी...। कहते हैं कि इसके बाद ब्रूटस ने अपनी जान बचाने का प्रयास करना छोड़ दिया और उसकी हत्या कर दी गई। विश्वसनीयता का संकट जिस आश्चर्य और अवसाद को पैदा करता है, उसकी सटीक अभिव्यक्ति इस मुहावरे के जरिए हुई है।

विश्वसनीयता के संकट की ब्रूटस जैसी स्थिति इस समय भारतीय मीडिया में देखने को मिल रही है और सीजर के अंदाज में उससे आश्चर्य के साथ प्रश्न पूछे जा रहे हैं। इस सबकी पृष्ठभूमि में है सोशल मीडिया पर चल रहा #metoo अभियान। सोशल मीडिया पर प्रारंभ हुआ #metoo अभियान महिलाओं की आपबीती बताने का अभियान था, लेकिन इसके गति पकड़ने के साथ ही विश्वसनीयता के संकट से जुड़ा प्रश्न भी बनने लगा। ऐसे लोग भी इस अभियान की चपेट में आने लगे जो स्त्री समानता और स्वतंत्रता के सबसे बड़े पैरोकार के रूप में खुद को दशकों से पेश कर रहे थे। #metoo से निकली कहानियां ऐसे पत्रकारों से जुड़ रही हैं कि पाठक मोहभंग की मन:स्थिति के साथ उनसे पूछ रहा है...you too...Mr. Progressive। आपबीती सुनाने वाला #metoo अभियान पाठकों के लिए मोहभंग का #youtoo अभियान बन चुका है।

हालिया #metoo अभियान की शुरुआत बॉलीवुड से होती है, लेकिन जल्द ही उसका दायरा मीडिया जगत को भी अपनी चपेट में ले लेता है। हिन्दुस्तान टाइम्स के राजनीतिक सम्पादक प्रशांत झा के खिलाफ आरोप लगे और उन पर सांस्थानिक कार्रवाई भी की गई। लेकिन इस खबर ने पत्रकारीय जगत में कोई खास हलचल पैदा नहीं की। हां, प्रशांत पर कार्रवाई को #metoo अभियान की सफलता के तौर पर जरूर देखा गया।

बॉलीवुड से यह अभियान पत्रकारीय-राजनीतिक गलियारे में दस्तक तब देता है, जब 8 अक्तूबर को पत्रकार प्रिया रमानी ने एमजे

चेतन भगत ने अपने ऊपर लगे आरोपों का जिस तरह सबूतों के साथ जवाब दिया, उसने #metoo अभियान के प्रायोजित होने या प्रसिद्धि पाने का अभियान बताने वाले लोगों की बात को लगभग सच साबित कर दिया...

अकबर के खिलाफ यौन उत्पीड़न के आरोप लगाए। रमानी को 20 से अधिक महिला पत्रकारों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। अकबर दिग्गज पत्रकार होने के साथ-साथ अपनी राजनीतिक पैठ के लिए जाने जाते हैं। इसलिए रमानी के आरोपों के बाद जो राजनीतिक तूफान खड़ा हुआ, वह 17 अक्तूबर को अकबर के विदेश राज्यमंत्री के तौर पर इस्तीफे के साथ ही कुछ ठंडा पड़ा। मोबाशर जावेद अकबर पेशे से पत्रकार, लेखक और भारतीय राजनेता हैं।

अकबर अपने दौर में पत्रकारिता के दिग्गज रहे हैं। पत्रकार के तौर पर अपने लंबे करियर के दौरान एमजे अकबर ने 1976 में भारत की पहली साप्ताहिक राजनीतिक मैगजीन संडे की शुरुआत की थी। इसके अलावा 1989 और 1994 में उन्होंने दो समाचारपत्रों - दि टेलिग्राफ और एशियन एज को शुरू किया था। वह इंडिया टुडे के मुख्य संपादक रह चुके हैं। इसके साथ ही वह साप्ताहिक समाचारपत्र दि संडे गार्डियन के संपादकीय निदेशक और संस्थापक रह चुके हैं। इसके बाद राजनीति में पूरी तरह से सक्रिय रहने के लिए उन्होंने पत्रकारिता छोड़ दी थी।

वह 1989 से 1991 के बीच कांग्रेस पार्टी से सांसद बने थे। वह पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी के कार्यकाल में प्रधानमंत्री के प्रवक्ता भी रह चुके हैं। 2014 में वह भाजपा में शामिल हो गए और उन्हें पार्टी का राष्ट्रीय प्रवक्ता बनाया गया था और बाद में विदेश राज्यमंत्री। उनके बारे में अंदरखाते की चर्चाएं चाहे जो भी होती रही हों, लेकिन उन पर #metoo अभियान के तहत लगे आरोपों को सामान्य पाठक को #youtoo कहने पर मजबूर कर दिया।

चेतन भगत का मामला कई मायनों में अनूठा था। चेतन भगत ने अपने ऊपर लगे आरोपों का जिस तरह सबूतों के साथ जवाब दिया, उसने #metoo अभियान के प्रायोजित होने या प्रसिद्धि पाने का अभियान बताने वाले लोगों की बात को लगभग सच साबित कर दिया। चेतन भगत पर लेखक इरा त्रिवेदी ने आरोप लगाए थे। #metoo अभियान के तहत इरा त्रिवेदी ने एक लेख में बताया था कि चेतन भगत ने उन्हें अपने कमरे में बुलाकर किस करने की कोशिश की। चेतन ने अपने बचाव में एक के बाद एक कई ट्वीट किए। चेतन ने ट्वीट में लिखा कि लड़की बहुत

एमजे अकबर और चेतन भगत पर लगे आरोपों को लेकर मीडिया में उस तरह गहमागहमी नहीं हुई, जैसी वरिष्ठ पत्रकार विनोद दुआ पर आरोप लगने के बाद हुई। कारण कई थे। एमजे अकबर अपने समय के दिग्गज पत्रकार थे, लेकिन अब वह पत्रकारिता से सक्रिय तौर पर नहीं जुड़े हुए हैं। वह राजनीति में हैं, इसलिए उन पर लगे आरोपों ने राजनीतिक उठापठक को जन्म दिया। चेतन भगत मुख्यत: अपने उपन्यासों के लिए जाने जाते हैं। स्तंभ लेखक के रूप में उनकी सक्रियता है, लेकिन एक पत्रकार के रूप में न उनकी स्वीकृति है और न ही उसका वह दावा करते हैं...

पावरफुल परिवार से ताल्लुक रखती है और उसका परिवार भी राजनीतिक पार्टी से जुड़ा हुआ है। चेतन ने यह भी लिखा है कि जिस वक्त का जिक्र किया जा रहा है, तब उन्हें बहुत कम लोग जानते थे।

चेतन भगत ने इरा त्रिवेदी का एक ई-मेल पब्लिक किया है और साथ ही पूछा है कि 'अब बताएं कौन, किसे किस करना चाह रहा था?' इरा त्रिवेदी का खुद से सब कुछ बयां करता ई-मेल, जो उन्होंने 2013 में मुझे भेजा था, खासकर आखिरी वाक्य, आसानी से यह दिखाता है कि उनका 2010 का दावा गलत है। यह उन्हें भी मालूम है। मेरे और मेरे परिवार के साथ मानसिक प्रताड़ना रुकनी चाहिए। चेतन का पलटवार #metoo अभियान पर कई प्रश्न खड़े कर गया।

एमजे अकबर और चेतन भगत पर लगे आरोपों को लेकर मीडिया में उस तरह गहमागहमी नहीं हुई, जैसी वरिष्ठ पत्रकार विनोद दुआ पर आरोप लगने के बाद हुई। कारण कई थे। एमजे अकबर अपने समय के दिग्गज पत्रकार थे, लेकिन अब वह पत्रकारिता से सक्रिय तौर पर नहीं जुड़े हुए हैं। वह राजनीति में हैं, इसलिए उन पर लगे आरोपों ने राजनीतिक उठापठक को जन्म दिया। चेतन भगत मुख्यत: अपने उपन्यासों के लिए जाने जाते हैं। स्तंभ लेखक के रूप में उनकी सक्रियता है, लेकिन एक पत्रकार के रूप में न उनकी स्वीकृति है और न ही उसका वह दावा करते हैं। लेकिन जब आरोप विनोद दुआ पर लगे तो यह पत्रकारीय बिरादरी का मुद्दा बन गया। क्योंकि वह अब भी सक्रिय पत्रकारिता करते हैं और वाम झुकाव वाली वेबसाइट दि वायर के कंसल्टिंग एडिटर हैं और वहां पर जन-गण-मन की बात नाम से एक कार्यक्रम भी प्रस्तुत करते हैं। वह अपने ऊपर आरोप लगने से ठीक पहले 5 अक्तूबर, 2018 को जन-गण-मन की बात के 313वें एपीसोड में #metoo के मुद्दे को लेकर विस्तार से चर्चा करते हैं।

14 अक्तूबर को फिल्म मेकर निष्ठा जैन उन पर यौन उत्पीड़न का आरोप लगाती हैं। निष्ठा एक डॉक्यूमेंट्री फिल्ममेकर हैं, जिनकी डॉक्यूमेंट्री 'गुलाबी गैंग' को दो राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुके हैं। निष्ठा ने फेसबुक पर पोस्ट लिखकर अपनी आपबीती बयां की। उनके अनुसार 1989 में विनोद दुआ के साथ एक इंटरव्यू के दौरान दुआ ने उनके साथ गलत व्यवहार किया। इस घटना के कुछ समय बाद उनसे बदतमीजी की और फिर कई दिनों तक उनका पीछा किया।

निष्ठा की पोस्ट के अनुसार वह जून, 1989 में विनोद दुआ से एक नौकरी के सिलसिले में

हालांकि #metoo अभियान के साथ संदेह और सीमाओं का अपना दायरा भी है। संदेह और सीमाओं के इस दायरे में केवल भारतीय #metoo अभियान ही नहीं है। 2006 में जब अमेरिकन-अफ्रीकन सामाजिक कार्यकर्ता तराना बुर्के ने इसकी शुरुआत की थी, तभी से इस पर प्रश्न चिन्ह लगते रहे हैं और इसे अभिजन महिलाओं के प्रसिद्धि पाने का माध्यम बताया जाता रहा है...

मिली थीं। उस समय वह 'जनवाणी' नाम का एक कार्यक्रम किया करते थे। जब वह उनसे मिलीं, तब बातचीत की शुरुआत में ही दुआ ने धीमी आवाज में एक अश्लील चुटकुला सुनाया। निष्ठा के अनुसार उन्हें याद नहीं कि वो क्या था, लेकिन वह बहुत घटिया था। इसके बाद दुआ ने उनसे पूछा वेतन को लेकर उनकी क्या अपेक्षाएं हैं। निष्ठा की तरफ से 'पांच हजार रुपए' की मांग आने के बाद दुआ ने उनसे कहा, 'तुम्हारी औकात क्या है?'

निष्ठा ने आगे लिखा है, 'मैं उनकी इस बात पर दंग रह गयी। मैंने पहले भी यौन उत्पीड़न का सामना किया था, लेकिन इस तरह की प्रताड़ना मेरे लिए एक नया अनुभव था।' उन्होंने आगे बताया है कि इसके बाद उन्हें दूसरी नौकरी मिल गई। वहां पर भी एक रात पार्किंग में विनोद दुआ उनसे मिले और यह कहते हुए कि वह उनसे बात करना चाहते हैं, अपनी गाड़ी में बैठने को कहा। निष्ठा ने लिखा है कि उन्हें लगा कि शायद दुआ अपने पिछले बर्ताव के लिए माफी मांगना चाहते हैं, इसलिए वह उनकी गाड़ी में बैठ गईं। निष्ठा ने आरोप लगाते हुए लिखा कि वह ठीक से बैठ भी नहीं सकी थीं कि दुआ ने उन्हें चूमने की कोशिश की, जिसके बाद वह किसी तरह दुआ की गाड़ी से निकल गईं। निष्ठा के अनुसार इसके बाद काफी समय तक दुआ ने उनका पीछा किया।

हालांकि #metoo अभियान के साथ संदेह और सीमाओं का अपना दायरा भी है। संदेह और सीमाओं के इस दायरे में केवल भारतीय #metoo अभियान ही नहीं है। 2006 में जब अमेरिकन-अफ्रीकन सामाजिक कार्यकर्ता तराना बुर्के ने इसकी शुरुआत की थी, तभी से इस पर प्रश्न चिन्ह लगते रहे हैं और इसे अभिजन महिलाओं के प्रसिद्धि पाने का माध्यम बताया जाता रहा है। अनेक वर्ष बाद विदेश से लौटकर तनुश्री दत्ता ने जिस तरीके से नाना पाटेकर पर आरोप लगाए और मीडिया ने उसे हाथोंहाथ लिया, उस पर प्रश्नचिन्ह तो लगता ही है।

कई विशेषज्ञ इसे बिशप फ्रैंको मुलक्कल बलात्कार केस से ध्यान हटाने की रणनीति मानते हैं। फिर भी, #metoo अभियान मीडिया के लिए #youtoo अभियान बन जन स्वस्थ पत्रकारीय परिवेश के लिए एक जरूरी पड़ाव साबित हो सकता है, क्योंकि इससे पत्रकारीय व्यक्तिपूजा बंद हो सकेगी और लोगों में अपने स्तर पर तथ्यों को खंगालने की प्रवृत्ति बढ़ सकेगी।

TRUTH लोदी मीडिया की ढहती सल्तनत

❑ डॉ. जयप्रकाश सिंह

पैगम्बरवादी पंथ मूर्तिभंग को मानभंग का प्रमुख औजार मानते हैं और ज्ञान की अन्य धाराओं से उनकी शत्रुता उन्हें शब्दवैरी-शास्त्रवैरी बना देती है। इसलिए प्रभाव-विस्तार के लिए यदि गाजियों और क्रूसेडर्ज के निशाने पर सबसे पहले धर्मस्थान और धर्मशास्त्र आते रहे हैं तो यह अनायास नहीं है। इसके स्पष्ट राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक आयाम हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर आइकनोक्लाज्म (मूर्तिभंग) और 'बुक बर्निंग (शास्त्र को जलाना)' सभ्यताओं के संहार की प्रक्रिया है। अंग-भंग से व्यक्ति आहत होता है, लेकिन इन सेमेटिक परम्पराओं से पूरी सभ्यता आहत होती है।

शब्द और मूर्ति सामूहिक स्मृति को गढ़ती है। शब्द के माध्यम से परम्पराएं आगे बढ़ती हैं और इस तरह शब्द सभ्यता के संरक्षक बन जाते हैं। दूसरी तरफ हजारों सालों का चिंतन मूर्तियों के रूप में आकार लेता है और इन मूर्तियों से संस्कृति को गढ़ने वाली अनेकों परम्पराएं जन्म लेती हैं। मूर्ति, चिंतन और परम्परा का निष्कर्ष होती है। मूर्तिभंग और शास्त्रोच्छेद के साथ चिंतन और परम्परा दोनों अवरुद्ध हो जाते हैं। ऐसे में सामूहिक स्मृतियों का लोप होना प्रारंभ हो जाता है। यह एक स्थापित तथ्य है कि स्मृतिहीन समाज आसानी से दासता स्वीकार कर लेता है। इसलिए अपने सत्य को अंतिम सत्य घोषित करने वाली सभ्यताओं ने यदि बड़े पैमाने पर पूरी दुनिया में मूर्तियों को तोड़ा और किताबों का जलाया, तो उनका मंतव्य किसी भी प्रकार अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करना था।

भारतीय संदर्भों में देखें तो मूर्तिभंग और शास्त्रवैर दोनों का ही दंश भारत को लगभग हजार साल तक झेलना पड़ा। सामूहिक स्मृति फिर भी बची रही, तो इसका कारण भारत की श्रुति परम्परा है। मूर्तियां टूटीं, शास्त्र जलाए गए, लेकिन कंठस्थ शब्दों और हृदयंगम भावनाओं का आक्रमणकारी क्या कर सकते थे? उन्हें तो वह देख ही नहीं सकते थे। इस्लामिक आक्रमण काल में जिन व्यक्तियों ने मूर्तिभंग और शास्त्रोच्छेद की परम्पराओं को जिहादी मानसिकता और क्रूर तरीके से आगे बढ़ाया, उसमें से एक का नाम सिकंदर लोदी है। इसलिए भारतीयता को हिंसक और क्रूर तरीके से मिटाने वाली मानसिकता को लोदी मानसिकता कहा जा सकता है।

भारतीय सभ्यता को स्मृतिहीन करने का महाअभियान अब भी विविध रूपों में चल रहा है। जहां पर संभव है वहां पर मूर्तिभंग के जरिए और जहां पर नहीं है वहां पर मीडिया के जरिए क्योंकि शब्दों को पालने-पोसने अथवा उन्हें मारने का कार्य मुख्यत: मीडिया के जरिए ही हो रहा है। सेनाओं के बजाय अब मीडिया भारतीय सभ्यता को स्मृति बनाने के कार्य को अंजाम दे रहा है। भारतीय

भारतीय मीडिया का एक बड़ा वर्ग इसमें संलिप्त रहा है। मीडिया के इस वर्ग की करतूतें सिकंदर लोदी जैसी हैं, इसीलिए मीडिया के इस वर्ग को लोदी मीडिया कहा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह लोदी मीडिया किस कदर पूर्वाग्रहों से संचालित होता रहा है, इसका सबसे अच्छा आकलन पिछले छह दशकों में चलाए गए प्रमुख आंदोलनों पर उसके दृष्टिकोण और कवरेज के आधार पर किया जा सकता है...

मीडिया का एक बड़ा वर्ग इसमें संलिप्त रहा है। मीडिया के इस वर्ग की करतूतें सिकंदर लोदी जैसी हैं, इसीलिए मीडिया के इस वर्ग को लोदी मीडिया कहा जा सकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह लोदी मीडिया किस कदर पूर्वाग्रहों से संचालित होता रहा है, इसका सबसे अच्छा आकलन पिछले छह दशकों में चलाए गए प्रमुख आंदोलनों पर उसके दृष्टिकोण और कवरेज के आधार पर किया जा सकता है। इन छह दशकों में देश के मानस को अभिव्यक्त करने वाले सभी प्रमुख आंदोलनों को या तो कवरेज ही नहीं मिली या फिर उसे सनकी-साम्प्रदायिक लोगों का आंदोलन बताने की कोशिश की गई। इसी कारण नई पीढ़ी स्वतंत्रता बाद के आंदोलनों से अपरिचित है या फिर उनके प्रति नकारात्मक नजरिया रखती है।

स्वतंत्रता के बाद पहली बार जिस आंदोलन ने पूरे देश को झकझोर कर रख दिया था, वह था 1966 में गोहत्या पर पाबंदी को लेकर साधु-संतों द्वारा चलाया गया आंदोलन। इस आंदोलन में सभी भारतीय सम्प्रदायों के संतों ने एक स्वर में गोहत्या पर पाबंदी और गोसंवर्द्धन के लिए ठोस कदम उठाने की सरकार से मांग की। गोरक्षा महाअभियान समिति के बैनर तले इस आंदोलन को आर्य समाज, बौद्ध, जैन, सिख, नाथ, निरंकारी सम्प्रदायों का भी समर्थन प्राप्त था। ऐसी सांस्कृतिक एकता उसके बाद भारत ने अभी तक नहीं देखी। सरकार ने इस मुद्दे पर अड़ियल रुख अपनाया। सात नवम्बर को दिल्ली में पुलिसिया कार्रवाई में कई संत गोलोकवास हुए। इसी आंदोलन के दौरान शंकराचार्य निरंजनदेवतीर्थ का 72 दिनों का अनशन और करपात्री जी महाराज की भूमिका को याद कर आज भी गोभक्त रोमांचित हो जाते हैं। लेकिन इसके बारे में मीडिया ने तब जो मौन धारण किया, वह अब तक बरकरार है। लोदी मोडिया द्वारा भारतीय भावनाओं को नजरंदाज करने की इस प्रवृत्ति के कारण सामान्य व्यक्ति तो दूर, अच्छे-खासे पढ़े-लिखे लोग भी इस आंदोलन और सात नवम्बर 1966 को संतों के अविस्मरणीय बलिदान के बारे में अनभिज्ञ हैं।

छोटी-छोटी घटनाओं के आधार पर अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर जो बनावटी बखेड़ा लोदी मीडिया आज खड़ा करने की कोशिश कर रहा है, उसकी भूमिका

आपातकाल में निहायत संदिग्ध रही। आज के दौर को जबरदस्ती आपातकाल जैसा साबित करने की कोशिश की जाती है, जबकि आपातकाल तो सचमुच का संकट था। 'जैसे खतरे' को 'सचमुच के खतरे' से बड़ा बताने का कारनामा तो लोदी मीडिया ही कर सकता है। आज भी आपातकाल की चर्चा आते ही मीडिया का यह वर्ग चर्चा करने से बचता है या शातिराना तरीके से 'हंसकर टाल देने वाली मुद्रा' अपना लेता है। नतीजतन, आपातकाल के बारे में आज भारतीय समाज खुद को स्मृतिहीन अवस्था में पाता है।

रामजन्मभूमि आंदोलन लोकतांत्रिक व्यवस्था में भारतीय चिति को स्थापित करने वाला राष्ट्र की तरफ से चलाया गया सर्वाधिक प्रभावी आंदोलन था। इसके केन्द्र में सभ्यता की पांच सौ सालों की संघर्षगाथा थी। दुर्भाग्य से मीडिया ने बहुत चालाकी से रामजन्मभूमि के विमर्श को 1949 से पहले नहीं जाने देने का षड्यंत्र रचा और वह इसमें सफल भी रहा। रामजन्मभूमि के लिए किए पचास पीढ़ियों के संघर्ष का इतिहास हर भारतीय के लिए प्रेरणास्रोत बन सकता था, लेकिन इसे आस्था, पहचान, आदर्श और इतिहास के बजाय बहुत सीमित दायरे में लिया गया। लोदी मीडिया ने प्रयासपूर्वक राष्ट्र की शताब्दियों की आकांक्षा को 'मंदिर बने या अस्पताल बने' जैसी टुच्ची बहस में उलझा दिया।

लोदी मीडिया का ऐसा ही रवैया रामसेतु आंदोलन और अमरनाथ आंदोलन के प्रति भी रहा। इन आंदोलनों की तीव्रता और व्यापकता को दरकिनार कर लोदी मीडिया में इनकी कवरेज कानून-व्यवस्था के प्रश्न के नजरिए सी गई। कहां पर कितने ट्रक रुके रहे, कैसे यातायात व्यवस्था प्रभावित हुई, ऐसे आंदोलनों के कारण कैसे एक खास वर्ग अप्रसन्न होता है, जैसे कोणों से इतने बड़े आंदोलनों की कवरेज करने की कुचेष्टा की गई। इसी कारण, अभी पिछले दशक में हुए इन आंदोलनों और उनके उद्देश्यों के बारे में हमारी जानकारी बहुत सीमित है।

शब्दों के जरिए भारतीयता की छवि भंग करने की कोशिशों को लोदी मीडिया पिछले दशक तक सफलतापूर्वक अंजाम देता रहा है। अब वह ऐसा नहीं कर पा रहा है। मीडिया पर उसका एकाधिकार खत्म हो रहा है, उसकी सल्तनत ढहती हुई दिख रही है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर, आदर्शों को बचाने के नाम पर मीडिया में जो धमा-चौकड़ी मची हुई है, उसका एकमात्र कारण लोदी मीडिया द्वारा एजेंडा तय करने की ताकत में आ रही गिरावट है...

शब्दों के जरिए भारतीयता की छवि भंग करने की कोशिशों को लोदी मीडिया पिछले दशक तक सफलतापूर्वक अंजाम देता रहा है। अब वह ऐसा नहीं कर पा रहा है। मीडिया पर उसका एकाधिकार खत्म हो रहा है, उसकी सल्तनत ढहती हुई दिख रही है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर, आदर्शों को बचाने के नाम पर मीडिया में जो धमा-चौकड़ी मची हुई है, उसका एकमात्र कारण लोदी मीडिया द्वारा एजेंडा तय करने की ताकत में आ रही गिरावट है।

लोदी मीडिया को पहला सबसे बड़ा झटका जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में सांस्कृतिक शाम के बहाने 'भारत तेरे टुकड़े होंगे' का नारा लगाने वाली गैंग के पक्ष में पूरी ताकत से बैटिंग करने के बावजूद देश द्वारा नकार दिए जाने बाद लगा। लोदी मीडिया के इस तर्क से कोई भारतीय सहमत नहीं हो सका कि अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर भारत की बर्बादी तक जंग रहेगी, गो-इंडिया-गो-बैक, भारत तेरे टुकड़े होंगे-इंशाअल्लाह, इंशाअल्लाह, बंदूक के दम पर लेंगे आजादी जैसे नारे लगाए जा सकते हैं। इस मामले में आरोपियों की जमानत देते समय जस्टिस प्रतिभा रानी का 2 मार्च, 2016 को यह निर्णय कि नारेबाज इसलिए नारे लगा पा रहे हैं, क्योंकि कच्छ और सियाचिन जैसे दुर्गम क्षेत्रों में सशस्त्र बल सीमा की सुरक्षा कर रहे हैं, पूरे देश की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति बन गया।

भीमा-कोरेगांव प्रकरण में भी बाबासाहेब भीमराव आम्बेडकर के विचारों के साथ अर्बन-नक्सलियों ने जिस तरह खिलवाड़ किया और लोदी मीडिया ने इसे जिस तरह न्यायसंगत ठहराने की कोशिश की, उससे अनुसूचित जाति के लोगों सहित पूरे देश ने नकार दिया। याकूब मेमन का प्रकरण हो या कठुआ कांड, लोदी मीडिया का झूठ अब आसानी से पकड़ा जाने लगा है। सोशल मीडिया का प्लेटफॉर्म और नागरिकों में बढ़ते भारतीयता के बोध ने झूठ के कारोबार को असंभव बना दिया है।

ऐसे में अपनी गिरती साख को बचाने के लिए यह लोदी मीडिया, खुद को सच का एकमात्र पैरोकार साबित कर दूसरों को 'गोदी मीडियो' बताने में जुटा है, सेल्फी लेने, न लेने पर फतवे जारी हो रहे हैं, सहानुभूति बटोरने की कोशिश हो रही है।

इन तमाम हथकंडों के बावजूद आम आदमी लोदी मीडिया के एजेंडे को तवज्जो नहीं दे रहा है। शायद वह लोदी मीडिया की प्राथमिकताओं, नारों के आवरण में छिपी असलियत को पहचानने में सक्षम हो गया है। लोदी मीडिया की ढहती सल्तनत से भारत न केवल शाब्दिक कत्लोगारत से मुक्त हो सकेगा, बल्कि उसे स्वस्थ-संवाद का परिवेश और नया सांस्कृतिक-आत्मविश्वास भी उपलब्ध हो सकेगा।

आत्मसंधान की भारतीय कला

❑ त्रिवेणी प्रसाद तिवारी

यह संसार रूपमय है। कोई भी कल्पना, समय का कोई भी उच्छवास बिना रूप निर्धारण के हो ही नहीं सकता। संपूर्ण प्रकृति बहुआयामी कलाकृतियां हैं। जीव-जंतु, जड़-जंगम, नदियां-पहाड़, जंगल-मरुस्थल यहां तक कि ब्रह्मांड सब मिलकर एक रूपमय कृति हैं। अगम्य, अगोचर का लक्षित होना ही रूप है। रूप इंद्रीय जनित संस्पर्श है। कलाओं के तीन मूल स्वरूप हैं- ध्वनि, शब्द और रूप। 'ध्वनि' जहां संगीत का द्योतक है, वहीं 'शब्द' भाषा एवं उसकी अर्थवत्ता का मूल है...

किसी चित्र अथवा मूर्ति के सामने आप खड़े होते हैं...एकटक निहारे जा रहे हैं...क्या आप कुछ बोल पाते हैं?

चुप...अपलक...आसपास देखते हैं। अपने अंदर झांकते हैं और मस्तिष्क उस कृति की समानता वाले अंश को, कहीं देखे गए रूप में खोजने लगता है। यह सब एकदम चुपचाप...नि:शब्द अंदर ही अंदर घटित होता है। किसी वस्तु अथवा प्राणी का हू-ब-हू चित्र देखकर आप उछल पड़ते हैं मन में या किसी चिंता में डूब जाते हैं या निर्वेद भाव लिए आंखों से उस निश्चित आकार सृष्टि में विचरण करते रहते हैं। सचमुच! कल्पनाओं के साथ कलाकृति के रूपाकार चलायमान हो जाते हैं। यहां कलाकृति नहीं चलती, आप स्वयं चलने लगते हैं। कृति और प्रेक्षक दोनों में आंतरिक संवाद प्रारंभ हो जाता है। अंत:स्थल में सवाल उठते हैं- क्या है, क्यों है, कैसे हुआ...? उस कलाकृति के सामने से हट जाने के बाद भी आपके चित्त में कुछ द्वंद्व चला आता है, चाहे उस कृति की चामत्कारिक बनावट हो, चाहे उसकी तीक्ष्ण लाक्षणिकता हो या आपके मनोभाव सा ही मिलता-जुलता रूप हो। बिना बोले, मौन में कुछ अनुत्तरित सा क्यों शुरू हो जाता है? इस आंतरिक वाद-संवाद का सबसे प्रमुख कारण है-रूप। विविध रूप, सुंदर-विद्रूप, सरल-जटिल, यथार्थ-अमूर्त। यह संसार रूपमय है। कोई भी कल्पना, समय का कोई भी उच्छवास बिना रूप निर्धारण के हो ही नहीं सकता। संपूर्ण प्रकृति बहुआयामी कलाकृतियां हैं। जीव-जंतु, जड़-जंगम, नदियां-पहाड़, जंगल-मरुस्थल यहां तक कि ब्रह्मांड सब मिलकर एक रूपमय कृति हैं। अगम्य, अगोचर का लक्षित होना ही रूप है। रूप इंद्रीय जनित संस्पर्श है।

कलाओं के तीन मूल स्वरूप हैं-ध्वनि, शब्द और रूप। 'ध्वनि' जहां संगीत का द्योतक है, वहीं 'शब्द' भाषा एवं उसकी अर्थवत्ता का मूल है। कला चित्रण में 'रूप' प्रथम सीढ़ी है। यहां केवल चित्रकला ग्रहण न करें, बल्कि मूर्ति और स्थापत्य भी इसमें अंतर्निहित हैं। किसी भी वस्तु के बाह्य आकार की पुन: रचना 'रूप' की आरंभिक अवस्था है। इस स्थूल संसार में किसी घटना, क्रिया व्यापारों का दिखाई देना पुन: रचने की ललक पैदा करता है। भारतीय कला अवधारणा के छह अंगों (षडंगों) में 'रूपभेद' सबसे पहले आता है। मैं बलपूर्वक कहूं तो कला साधना की यह पहली शर्त, दुनिया की किसी भी कलाशिक्षा की अनिवार्य शर्त है। अलग-अलग नामों से बांटे गए संसार के कला इतिहास के विभिन्न 'वाद' (अध्ययन सुविधानुसार), वह पाश्चात्य हो या भारतीय, सभी की कला का मूल स्वरूप यदि कुछ है तो 'रूपभेद' ही है। जब हम पहली बार जमीन पर निर्दोष भाव से आड़ी-तिरछी, गोलाई में कुछ रेखाएं खींचते हैं अथवा गेरू चॉक या पैंसिल से सतह पर कोई आकृति बना पाते हैं तो ऐसा क्यों हो पाता है? रचने का यह निरुद्देश्य भाव कुछ वैसा ही होता है, जैसे संध्याकाल में शांत तालाब में आप अचानक एक कंकड़ उछाल देते हैं और तालाब तरंगें बना-बनाकर किनारे पहुंचाने लगता है। हम एकटक देखते रह जाते हैं। 'आकार भाव' भी इसी तरह एकाएक मन में आ जाता है। इस रच जाने के पीछे रूपबोध होता है। इस रूपबोध को आपकी ज्ञानेंद्रियां अर्जित करती हैं। हमारे शरीर की ज्ञानेंद्रियों में प्रमुख है-चक्षु, आंख। ये आंखें हमें इतना कुछ दिखाती हैं, परंतु आंखें भी कुछ न दिखा पातीं यदि वस्तुओं में रंग न होते। रंगों के

सहारे हम रूप का भाव ग्रहण कर पाते हैं। अत: रूप सृष्टि का पहला द्वार आपके चक्षु हैं। इसलिए रूपंकर कलाओं को चाक्षुष कला (दृश्य कला) कहा गया है भारतीय वाङ्मय में। ये चाक्षुष कारण संवाद की धारा हैं, परंतु शब्द और ध्वनि रहित और इतर भी। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, कला संसार में थोड़ी सी भी रुचि रखते हैं, तो आम तौर पर आपको दो धाराएं दिखाई पड़ेंगी-मूर्त और अमूर्त। इन दोनों को लेकर बहुत विशेषाधिकार भी हैं, विभिन्न कलाकारों में। मूर्त रूप साधारणत: वह समानता है, जिसे आप सृष्टि में कहीं न कहीं उस जैसा देख चुके हैं। अमूर्तन जिस पर बहस बहुत बड़ी है, फिर भी संक्षेपत: अमूर्त भी एक रूप ही है, जिसकी समानता शायद किसी परिचित वस्तु, जंगम-स्थावर से नहीं होती, बल्कि प्रतीति में होती है। अमूर्तन, भाव है जो आंखों के अलावा अन्य ज्ञानेंद्रियों से प्रतीत होता है या मालूम पड़ता है। फिर भी सृजन कोई तो रूप धारण करता ही है। यदि वह 'रूप' है तो इतना विरोधी कैसे है जैसा कि आजकल कलाकार अपनी रचनाओं में मूर्त-अमूर्त को लेकर बंटे हुए दिखाई पड़ते हैं, जबकि यह विवाद का विषय नहीं बल्कि विस्तृत रूपभेद का प्रकटीकरण है।

सजीव-निर्जीव से भरी दुनिया नाना प्रकार के स्वरूपों में काल प्रभाव से निर्मित होती रहती है। अणु से लेकर ब्रह्मांड तक अनंत रूपमय सृष्टि की अनुभूति ही रूपबोध है और इसमें नित्य प्रति बदलाव होता रहता है। इसलिए भारतीय सर्जना कहती है- 'रूपभेद:' अर्थात अनंत रूप और उन रूपों में भेद अंतर। कलाकार द्वारा बनाया गया पहला रेखांकन और जीवनपर्यंत साधक का रेखांकन कितने ही रूप गढ़ता है। इस अंतर भेद को जानना कला साधक के लिए अत्यंत जरूरी है अन्यथा एक समय पश्चात उसकी कला में एकरूपता का ठहराव आने लगता है। ध्वनि और शब्दों से समन्वित जीवन संसार में आपको रूपबोध सीमित मात्रा में या अपनी रुचि अनुसार ही महसूस होता है। यदि आपका जीवन ध्वनि-शब्द हो जाए तो तब आपको केवल और केवल रूप की प्रतीति होगी। पूरा जगत मात्र आकारों का अजूबाघर मालूम पड़ेगा। उस समय समस्त संवाद माध्यम केवल रूप ही होगा। यह अद्भुत है। जो सभ्यताएं प्रकृति में जितनी अधिक घुली-मिलीं, रची-बसी होती हैं वहां 'शब्द' कम होते हैं और ध्वनि-संकेत रूप में होते हैं अथवा लय में। उनकी भाषा ही चित्रात्मक हो जाती है। संभवत: मानव ने पहली बार आकार गढ़कर ही बात की होगी। हमारे देश में भीम-बेटका गुफा में गेरू से चट्टानों पर बने जीवनानुभवों के रेखीय चित्र प्रागैतिहासिक मानव द्वारा अद्भुत उदाहरण विद्यमान हैं।

रूपभेद एक साथ कहे गए हैं। अन्तर सहित आकार का ज्ञान। यह भेद सामान्य लोगों से हटकर एक अलग दृष्टिकोण पैदा करता है। किसी टूटे-फूटे, पुराने खंडहर में आपको कुछ नया नहीं मिलेगा, किंतु जब वही दृश्य किसी कलाकार के द्वारा सृजित होकर कागज पर देखते हैं, तो उन टूटी हुई चीजों के टुकड़ों को भी देर तक देखते रह जाते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि वहां अपने स्वरूप में रचित खंडहर के रूप का विन्यास पूरे अंतराल के साथ ध्वनित होता है। सिरजे हुए कार्य में केवल रूपबोध है। जब साक्षात् वो दृश्य देख रहे थे, तब वहां प्रतिपल बदलते समय के साथ रूप को देख रहे थे। क्षणे-क्षणे परिवर्तित सुंदरता, वहां मौजूद ध्वनियां और बड़ा आकाश आपकी नजर को एक जगह टिकने नहीं देता। अत: समय विशेष के नवीन होते प्रभाव को ग्रहण करने एवं रचने की चुनौती कलाकार के लिए कठिन होती है। रूपबोध सामान्य घटना नहीं है। यह निरंतर कला अभ्यास द्वारा घटित होती है। अनुभूति को चित्रित करने की साधना में भारतीय एवं यूरोपीय दृष्टिकोण में अंतर है। रूप साम्य हो सकता है, परंतु उसके पीछे साभ्यतिक दर्शन प्रमुख होता है। यूरोपीय कला संसार शारीरिक सौष्ठव, बाहों-माथे के बल, मांसल मरोड़ एवं त्वचा की अद्भुत कारीगरी मिलेगी। उन्होंने मानव एवं दृश्यमान जगत की शारीरिकी के यथार्थ बुनावट को ही रूप साधना की चरम अभिव्यक्ति माना है। इसका कारण यूनान-रोम के दर्शन एवं कला दर्शन हैं। इन साम्राज्यों में शक्ति संगठन, योद्धा की शूरवीरता, उनके शारीरिक कौशल में व्यक्तिगत ताकत व सोच की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए आप यूनानी देवताओं (अपोलो, जियूस, एथेना, पोसाइडन इत्यादि) की मूर्ति में किसी साधारण मानव, जिस पर उम्र का असर है, दिखाई पड़ेगा। होमर के महाकाव्य में रचित चरित्र शरीरिक रूप से संबल एवं पार्थिवपूर्णता से युक्त हैं। आगे यूरोपीय कला में पुनर्जागरण काल से होते हुए विश्व युद्ध के लंबे कालखंड के बाद तक उसी दैहिक की उत्तम अभिव्यक्ति, नाटकीय रंग प्रभावों, मांसलता, आकृति के संतुलन बिंदु, कपड़े की सिकुड़न और दृश्य में रचित वातावरण के यथार्थ का अंकन हम पाते हैं। वहां की कला शिक्षा में भी आकृति अध्ययन वस्तुओं को सामने रखकर 'मॉडल' के रूप में किया जाता है।

भारतीय सृजन संसार निश्चित उद्देश्य से संचालित रहा। यहां की जीवन शैली, दर्शन, प्रकृति में व्याप्त ब्रह्म को अनुभूत करने की भावना से भरे हुए हैं। मोक्ष रूप में जिस परमानंद में विलीन होना जीवन का उद्देश्य निर्धारित किया गया है, वह तत्व प्रकृति की हर वस्तु आकार, पौधा, पहाड़, नदी, बालक, पशु, चट्टान तक में देखा जाता है। इसीलिए किसी स्वरूप का अंकन घट-घट व्यापी को ही पाने का साधन बन गया। यहां

के शारीरिकी बोध, हू-ब-हू अंकन पर नहीं टिका, यथार्थ के चामत्कारिक महारत पर नहीं गया, बल्कि उस वस्तु के सरल रेखीय आकारों के गति बोध को लेकर दैवीय अनुभूति और दैहिकता को रचने का प्रयास किया गया। जैसे अजंता-ऐलोरा, खजुराहो, दिलवाड़ा के चित्र एवं शिल्प विधान। प्रकृति के उपमानों की लयता, ऋजुता को विषय अभिव्यक्ति में प्रमुखता मिली है। भारतीय लोक आवरण तो और भी सहज है। विभिन्न अवसरों पर गढ़े जाने वाले खिलौने एवं पूजन-त्योहारों पर आराध्य को रचते हुए जो स्वरूप निर्मित होता है, कला रूप केवल निमित्त बनता है उस आनंद तक पहुंचने का। अत: सभी रूपों में व्याप्त उस 'एकोअहं ' का भेद जानकर तभी रूप सिद्धि का प्रयास कलाकार का मूल होता है। पहाड़ी कला शैली (कांगड़ा, बसोहली, चंबा इत्यादि), राजस्थानी कला में यह भाव प्रत्यक्ष है।

एक तरफ सरल लयात्मक आकार तथा दूसरी ओर परिप्रेक्ष्य में उसी सतह पर दूर तक, कई मीलों तक ऊपर से दिखने वाला दृष्टि पथ (एरियल व्यू) है। कृष्ण-राम भगवान हैं, शक्तिशाली हैं किंतु चित्रण में सरल प्रतीक रूप। महात्मा बुद्ध कोई मांसलता, कोई तीव्र शारीरिक उभार नहीं, है तो केवल सरल रेखा में दैवीय रूप। बाद में इस्लामिक प्रभाव से मुगल चित्र शैली एवं स्थापत्य में सजावटी अलंकरण का भी समावेश हुआ।

अंग्रेजों की गुलामी के लंबे अंतराल में भारतीय शिल्प कला संरचना पर अधिक असर पड़ा है। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति उनके कला मूल्यों पर आधारित शिक्षा में भारतीय मानस दब गया और स्वतंत्रता संग्राम में जिस तरह से विदेशी चीजों की तिलांजलि दी गई, उसी तरह कला सृजन में रविंद्र नाथ टैगोर और उनके मार्गदर्शन में निकली शिष्यों की सुदीर्घ परंपरा (नंदलाल बोस, क्षितिन्द्र नाथ,

आजादी के बाद हमने विकास के नाम पर पाश्चात्य देशों की तकनीकों का अनुगमन किया और अपनी विधियों, अनुपातों, उपकरणों को आधुनिकता के नाम पर पिछड़ा मान लिया। बातों में लच्छेदार भारतीय दर्शन है, लेकिन विधि-विधान में विदेशी मूल्य बोध ही अपनाए जा रहे हैं तिस 'समकालीन कला' नाम का नया लहजा नया बनने की कोशिश में कुछ भी करने की छूट। 'वाद' तो पाश्चात्य की विशेषता है ऐतिहासिक अनुक्रम फिट करने का और फिटिंग करने के बाद उसे 'बीता हुआ' यानी 'हो चुका' कहकर नए की बलात् बुद्धिपूर्वक खोज। भारतीय मेधा अपनी मूल अवधारणा में कुछ नया रच सकती है। आधुनिक रूप से जिन कलाकारों ने भारतीय दर्शन को लेकर रचा, वही सही अर्थों में अलग पहचान बनाए पाए हैं...

रामकिंकर बैज, विनोद बिहारी मुखर्जी, अनेकश:) ने भारतीय रूपभेद की अवधारणा को पुनर्जीवित किया। आजादी के बाद हमने विकास के नाम पर पाश्चात्य देशों की तकनीकों का अनुगमन किया और अपनी विधियों, अनुपातों, उपकरणों को आधुनिकता के नाम पर पिछड़ा मान लिया। बातों में लच्छेदार भारतीय दर्शन है, लेकिन विधि-विधान में विदेशी मूल्य बोध ही अपनाए जा रहे हैं तिस 'समकालीन कला' नाम का नया लहजा नया बनने की कोशिश में कुछ भी करने की छूट।

'वाद' तो पाश्चात्य की विशेषता है ऐतिहासिक अनुक्रम फिट करने का और फिटिंग करने के बाद उसे 'बीता हुआ' यानी 'हो चुका' कहकर नए की बलात् बुद्धिपूर्वक खोज।

भारतीय मेधा अपनी मूल अवधारणा में कुछ नया रच सकती है। आधुनिक रूप से जिन कलाकारों ने भारतीय दर्शन को लेकर रचा, वही सही अर्थों में अलग पहचान बनाए पाए हैं। वो सैयद हैदर रजा हों, राजकुमार के.जी. सुब्रह्मण्यम, जी.आर. संतोष, पणिक्कर, ए. रामचंद्रन हों या सुबोध गुप्ता और अन्य नाम जिन्हें समय की छननी में छनना बाकी है। रूप सत्य भारतीय अवधारणा में स्पष्ट है। चित्रण केवल स्थूल सापेक्ष नहीं हो सकता। मन में विराट तत्व की अनुभूति हो तो आकार संरचना मात्र कला विलास नहीं रह जाता, वो आत्म सापेक्ष हो जाता है। इस तरह रचने में कलामन स्वयं रचित होने लगता है। हम बोल पड़ते हैं कि 'अहा!' जैसे रेखाएं सजीव हो गई हैं। मूर्ति मानो बोल पड़ेगी। रूप रचना में जीवन के सारे लक्षण डाल देता है कलाकार। लक्षणों के भेदाभेद के पुन: सर्जन में हर बार कुछ छूट जाता है, वो बार-बार प्राणछंद को रूपायित करता है, फिर कुछ रह जाता है और वह कह उठता है-

'स्याम गौर किमि कहौं बखानी
गिरा अनयन नयन बिनु बानी'

-गोस्वामी तुलसीदास

-लेखक, भारतीय कला-दर्शन के अध्येता तथा पॉटरी और सेरेमिक में अपने कृति-संग्रह 'बीजक' के लिए चर्चित हैं।

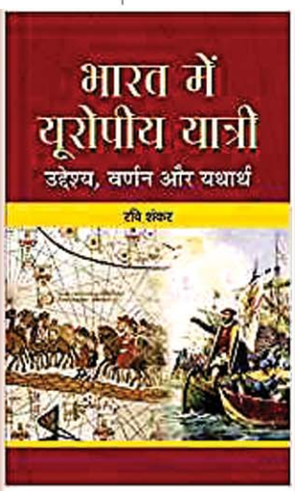

किताब का नाम : भारत में यूरोपीय यात्री-उद्देश्य, वर्णन और यथार्थ
लेखक का नाम : रवि शंकर
मूल्य : 320 रुपए
प्रकाशन : प्रभात प्रकाशन

यह किताब भारत आने वाले यूरोपीय यात्रियों से हमारा वास्तविक परिचय कराती है। यूरोपीय यात्रियों के बारे में गढ़ी गई सच्चाइयों से रू-ब-रू कराने की यात्रा इतनी विस्तृत और रोचक है कि हम कई पड़ावों पर खुद को शैक्षणिक ठगी का शिकार मानने को मजबूर हो जाते हैं। पुस्तक छह अध्यायों में विभक्त है। किताब की शुरुआत यूरोप-भारत सम्बंधों की शुरुआत से होती है..

यूरोपीय सच्चाई का भारतीय संस्करण

भारतीय दस्तावेजों को यूरोपीय नजरिए से व्याख्यायित करने के औपनिवेशिक चलन को अब भारतीय अकादमिक जगत में सामान्य और आवश्यक शोध सिद्धांत के तौर पर स्वीकार किया जाता है। हम आज तक उन धरातलों का शोध नहीं कर पाए हैं, जिन पर भारतीयता अधिष्ठित है। इसलिए परम्पराओं की व्याख्या के भारतीय मानक भी विकसित नहीं हो पाए हैं। इंडोलॉजी के नाम पर बहुत मेहनत से किए जाने वाले शोधों में आसानी से यह तथ्य पकड़ में आ जाता है कि हमारी कोशिश पश्चिमी पैमानों पर भारत और उसकी परम्पराओं में अधिकतम अच्छाइयों का ढूंढने की है। और फिर अजीब सा दावा करना कि जो यूरोप आज कर रहा है, वह हम हजारों सालों से करते रहे हैं।

हो सकता है कि भारत में बहुत सारी ऐसी बातें होती भी रही हों, जो यूरोप में अच्छाई के नाम पर आज हो रही हैं। लेकिन इस क्रम में यह बात विस्मृत नहीं होनी चाहिए कि भारतीय परम्पराएं एकांगी नहीं हैं, वे एक वृहद् और गुंथी हुई प्रक्रिया का हिस्सा रही हैं, जिसके केन्द्र में स्व, सृष्टि, अध्यात्म और धर्म की गहरी अनुभूतियां निहित हैं। उस वृहद् धरातल को पहचाने बिना उसमें अच्छाई ढूंढ निकालने का प्रयास करना अच्छी भावना के साथ खुद को छोटा बनाने के प्रयास जैसा है।

सभ्यता अध्ययन केन्द्र के निदेशक रवि शंकर की नई किताब, 'भारत में यूरोपीय यात्री-उद्देश्य, वर्णन और यथार्थ' का आकलन इस परिप्रेक्ष्य में करें तो यह इंडोलॉजी के क्षेत्र में एक नई मार्गदर्शिका के तौर पर उभर कर हमारे सामने आती है। यह यूरोपीय नजरिए से भारत के आकलन से न केवल मुक्त है, बल्कि इससे भी एक कदम आगे जाकर भारतीय नजरिए से यूरोपीय सच्चाई की ईमानदार पड़ताल है। इस किताब की संकल्पना में रवि शंकर इस मान्यता के साथ आगे बढ़ते हैं कि इंडोलॉजी की परिधि भारत तक ही सिमटी हुई नहीं है। भारतीयता की खूबियों और खामियों का आकलन निर्वात में नहीं हो सकता, उसके लिए तुलनात्मक आधारों से हमारा वास्तविक परिचय भी होना चाहिए।

यह किताब भारत आने वाले यूरोपीय यात्रियों से हमारा वास्तविक परिचय कराती है। यूरोपीय यात्रियों के बारे में गढ़ी गई सच्चाइयों से रू-ब-रू कराने की यात्रा इतनी विस्तृत और रोचक है कि हम कई पड़ावों पर खुद को शैक्षणिक ठगी का शिकार मानने को मजबूर हो जाते हैं। पुस्तक छह अध्यायों में विभक्त है। किताब की शुरुआत यूरोप-भारत सम्बंधों की शुरुआत से होती है। दूसरे और तीसरे अध्याय को भी पृष्ठभूमि के तौर पर लिया जा सकता है।

किताब का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा इसका चौथा और पांचवां अध्याय है। इन अध्यायों में यूरोपीय यात्रियों के वास्तविक लक्ष्यों और उद्देश्यों की विवेचना की गई है। चौथे अध्याय में इस बात को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि यूरोपीय यात्रियों की भारत की तरफ यात्रा किसी ज्ञान पिपासा के कारण नहीं थी, बल्कि यह सभ्यतागत आक्रमण और आर्थिक लूट के उद्देश्य से प्रारंभ हई थी।

इसी तरह पांचवें अध्याय में उन बिंदुओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, जहां पर इन यात्रियों के उद्देश्यों और व्यक्तित्व का वर्णन पक्षपातपूर्ण ढंग से किया गया है। यह वर्णन भी नेत्रोन्मीलक है। किताब के समापन तक पहुंचते-पहुंचते लेखक प्रख्यात इतिहासकार और दार्शनिक धर्मपाल की उस स्थापना से खुद को सहमत पाते हैं कि यूरोप के बारे में सीमित और भ्रामक जानकारी भारतीयों को न तो यूरोप का सही आकलन करने देती है और न ही अपने बारे में सही निष्कर्ष तक पहुंचने देती है। पश्चिम को लेकर जो व्यामोह और सम्मोहन भारत में देखने को मिलता है, उसका बड़ा कारण यूरोप की साभ्यतिक रीति-नीति से हमारा अपरिचय ही है।

यह पुस्तक भारत आने वाले यूरोपीय यात्रियों के वास्तविक लक्ष्यों और बड़ी मेहनत से गढ़ी गई उनकी कृत्रिम मानवीय छवि के बीच के सच को बड़े करीने से पकड़ती है। इसी बहाने किताब यूरोप के सच से हमारा परिचय भी कराती है। अपनी सभ्यता को लेकर सजग हर व्यक्ति के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

बॉलीवुड के मिथक को तोड़ती है पटाखा

❑ दीपक कुमार

स्टारकास्ट : सुनील ग्रोवर, सान्या मल्होत्रा, राधिका मदान, विजय राज, सानंद वर्मा
डायरेक्टर/ म्यूजिक : विशाल भारद्वाज
रेटिंग-3 स्टार

चुड़ैल...गदही..डायन...बॉलीवुड में बहनों को ऐसे लड़ते हमने अंतिम बार कब देखा था, शायद याद नहीं। बॉलीवुड में तो बहनें एक-दूसरे से खूब प्यार करती हैं और हाथ पकड़कर एक-दूसरे के साथ डांस करती हैं, जरूरत पड़ने पर बहन के 'प्यार' के लिए घर वालों से लड़ जाती हैं। लेकिन विशाल भारद्वाज की फिल्म में बहनें ये नहीं करतीं। हमेशा अपनी फिल्मों में गाली-गलौज की भरपूर मात्रा रखने वाले विशाल भारद्वाज की 'पटाखा' भी एक अलग तरह का बारूद है। यूं समझ लीजिए कि 'पटाखा' बॉलीवुड की घिसी-पिटी कहानियों की दीवार को तोड़ती है।

क्या है कहानी

फिल्म का आगाज, दो बहनों गेंदा कुमारी (सान्या मल्होत्रा) और चंपा कुमारी (राधिका मदान) की लड़ाई से होता है। इन बहनों के दो कॉमन शौक हैं, पहला-एक दूसरे से लड़ाई करना और दूसरा-बीड़ी पीना। वहीं इनके दो अलग-अलग शौक भी हैं। चंपा को दूध का व्यापार करना है, तो गेंदा को पढ़ाई करनी है। लेकिन इनकी असल यूएसपी लड़ाई है। जब लड़ाई की शुरुआत होती है तो ये एक-दूसरे को चुन-चुनकर गालियां देती हैं। उलझे बालों में, दांत भींचती, नाक फुलाती, एक-दूसरे पर लात-घूंसे चलाती रहती हैं और यह तब तक चलता रहता है जब तक उनके बापू (विजय राज) जाकर दोनों को अलग नहीं करते। आपसी लड़ाई से परेशान दोनों बहनें एक-दूसरे से पिंड छुड़ाना चाहती हैं। लेकिन किस्मत कुछ ऐसा मोड़ ले लेती है कि जो बहनें एक-दूसरे का चेहरा देखना नहीं चाहतीं, वो एक घर में ब्याही जाती हैं। निर्देशक विशाल ने, इस रिश्ते

को भारत-पाकिस्तान के प्रतीक के तौर पर सामने रखा है। इन दोनों बहनों के बीच लड़ाई की आग जलाने वाला एक कॉमन दोस्त भी है। यह दोस्त डिपर यानी सुनील ग्रोवर है, जो दोनों को लड़ता देख अंदर ही अंदर मजे लेता है। लेकिन कभी-कभी दोनों बहनों के परेशान होने पर मदद भी कर देता है। डिपर की मदद भी उसकी तरह यूनीक रहती है।

फिल्म क्यों देखें

अगर एक ही तरह की फिल्में देखकर बोर हो चुके हैं तो पटाखा में आपको बहुत कुछ अलग और नया मिलेगा। बॉलीवुड फिल्मों के भाई-बहनों को ऐसे लड़ते आपने कभी नहीं देखा होगा। इस फिल्म की लीड एक्ट्रेस को खूबसूरत और ग्लैमरस दिखने की चाहत नहीं है। दोनों ने पूरी फिल्म में तरह-तरह की गंदी शक्लें बनाई हुई हैं।

शानदार अभिनय का नमूना

इस फिल्म के सभी कलाकारों का सधा अभिनय है। दोनों बहनों के पिता की भूमिका में विजय राज को एक लंबे समय के बाद अपने हुनर को दिखाने का मौका मिला है, जिसका उन्होंने भरपूर फायदा उठाया है। सुनील ग्रोवर ने जता दिया है कि फिक्शन में भी उनको सही तरीके से इस्तेमाल किया जाए तो वो तुरुप का इक्का साबित हो सकते हैं। सान्या मल्होत्रा ने अपना हुनर पहली फिल्म 'दंगल' में ही दिखा दिया था और यहां भी उनका काम बेहद परिपक्व है। लेकिन इन सबके के ऊपर कोई है तो वो है राधिका मदान। एक बिगड़ैल बड़ी बहन की भूमिका में अपनी पहली फिल्म में ही राधिका ने दिखा दिया है कि आने वाले समय में अभिनय के क्षेत्र में कई पताका फहरा सकती हैं। उनका काम फिल्म में जबरदस्त है।

कैसी है डायरेक्शन

देसी अंदाज की फिल्मों के महारथी माने जाने वाले विशाल भारद्वाज अब तक कई उपन्यासों पर फिल्में बना चुके हैं। लेकिन इस बार विशाल ने फिल्म बनाने के लिए चरण सिंह पथिक की शॉर्ट स्टोरी दो बहनें को चुना है। विशाल को यह कहानी इतनी पसंद आई कि उन्होंने फिल्म की स्क्रिप्ट लिखने से लेकर निर्देशन तक का जिम्मा खुद उठा लिया। इस भूमिका में विशाल हमेशा की तरह परफेक्ट लगे हैं। वहीं फिल्म का एक गाना 'तेरो बलमा' दिल को छू जाने वाला है।

कहां हुई चूक

फिल्म की पृष्ठभूमि राजस्थान की है और कई बार वहां की भाषा को समझने में हिंदी भाषी लोगों को परेशानी हो जाती है। फिल्म कुछ लंबी सी लगेगी। फिल्म में इतना शोर है कि इसका लुत्फ आप ठीक से नहीं उठा सकेंगे। विशाल भारद्वाज ने फिल्म के क्लाइमेक्स को हिंदुस्तान-पाकिस्तान के रिश्ते से क्यों जोड़ दिया, यह समझ से परे है।

लेखक, युवा फिल्म समीक्षक हैं।

डाटा माइनिंग

❑ रविंद्र सिंह भड़वाल

डाटा माइनिंग एक ऐसी अवधारणा है जिससे आज भले बहुत कम लोग परिचित हों, लेकिन भविष्य की पत्रकारिता की दशा एवं दिशा बहुत हद तक इसके द्वारा प्रभावित एवं निर्धारित होगी। किसी विषय विशेष से संबंधी आंकड़ों का एकत्रीकरण, एकत्रित आंकड़ों का परिमार्जन, विश्लेषण और फिर उन्हीं आंकड़ों के साथ पाठक के बीच 'तथ्यपरक' खबर को लाने तक की प्रक्रिया को डाटा माइनिंग कहा जाता है...

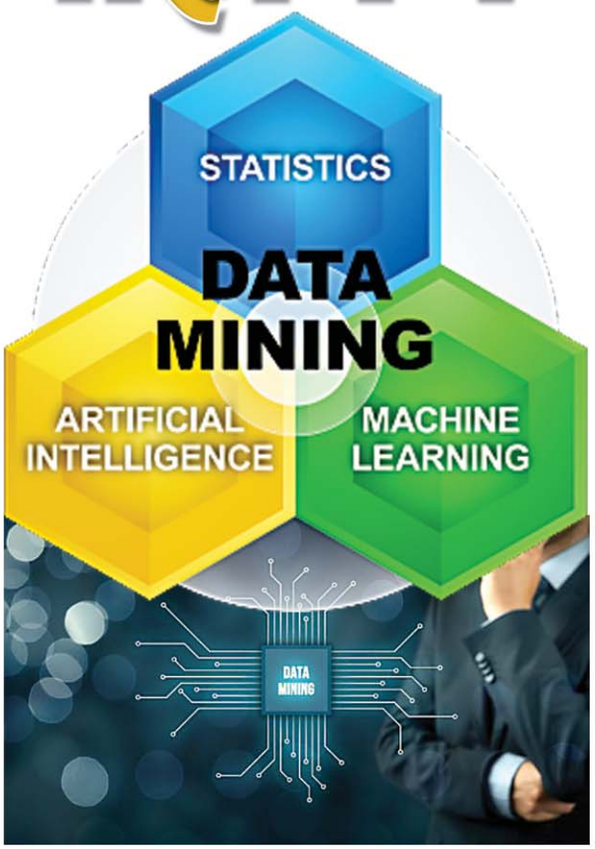

डाटा माइनिंग एक ऐसी अवधारणा है जिससे आज भले बहुत कम लोग परिचित हों, लेकिन भविष्य की पत्रकारिता की दशा एवं दिशा बहुत हद तक इसके द्वारा प्रभावित एवं निर्धारित होगी। किसी विषय विशेष से संबंधी आंकड़ों का एकत्रीकरण, एकत्रित आंकड़ों का परिमार्जन, विश्लेषण और फिर उन्हीं आंकड़ों के साथ पाठक के बीच 'तथ्यपरक' खबर को लाने तक की प्रक्रिया को डाटा माइनिंग कहा जाता है। बदलते दौर के साथ खबर की अभिव्यक्ति के माध्यम और प्रारूप भी बदल रहे हैं। तेज रफ्तार जिंदगी में हर कोई कम शब्दों में अधिक से अधिक उपयोगी सूचनाएं समेटना चाहता है। इसी जरूरत को पूरा करने की दिशा में डाटा माइनिंग एक प्रभावी जरिया बनता जा रहा है। 'खबर विशेषज्ञता' की खासियत वाली डाटा माइनिंग की भविष्य की पत्रकारिता में बेशुमार संभावनाएं विद्यमान हैं। डाटा माइनिंग की प्रक्रिया में मुख्यत: चार चरण शामिल किये जा सकते हैं।

1 - आंकड़ों का एकत्रीकरण : डाटा माइनिंग की प्रक्रिया, संबंधित विषय से जुड़े आंकड़ों के एकत्रीकरण से शुरू होती है। प्राथमिक आंकड़े एकत्रित करने के अलावा द्वितीयक आंकड़ों के कई स्रोत इस प्रक्रिया में सहायक बन सकते हैं। द्वितीयक आंकड़ों में भी सरकारी प्रकाशन, अखबारों में पहले की प्रकाशित खबरें एवं लेख, विभिन्न गैर सरकारी संगठनों की रपटें या शोध संस्थानों द्वारा निष्पादित कार्य मददगार साबित होता है। विषय की प्रकृति और जरूरत पर निर्भर करता है कि कौन से स्रोत से आंकड़े हमारी परियोजना में काम आ सकते हैं।

2 - आंकड़ों का परिमार्जन : आंकड़ों के एकत्रीकरण के पश्चात आंकड़ों की काट-छांट का कार्य प्रारंभ होता है। यह कार्य तब और भी जरूरी हो जाता है, जब द्वितीयक स्रोत से आंकड़े एकत्रित किए गए हों। ऐसा इसलिए क्योंकि पहले से उपलब्ध आंकड़े न जाने किस उद्देश्य से एकत्रित किए गए हों, लिहाजा इस श्रेणी में हम केवल उन्हीं आंकड़ों को लेते हैं जो हमारी स्टोरी में प्रासंगिक हों।

3 - विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण : विश्लेषण में उपलब्ध आंकड़ों के पैटर्न और ट्रेंड को समझने का प्रयास किया जाता है। जब हम आंकड़ों के पैटर्न और ट्रेंड को समझ लेते हैं, तो उनके प्रभावी प्रस्तुतीकरण में सुविधा होगी।

4 - आंकड़ों की स्टोरी में अभिव्यक्ति : डाटा माइनिंग की प्रक्रिया का अंतिम चरण उपलब्ध अंतिम आंकड़ों को अपनी स्टोरी के साथ प्रकाशित करने का होता है। आंकड़े स्टोरी के साथ जुड़कर अधिक से अधिक प्रभाव पैदा कर सकें, इसके लिये ग्राफिक्स, डायग्राम, चार्ट, मैप आदि की सहायता से विजुअलाइजेशन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार डाटा माइनिंग वह पत्रकारीय प्रक्रिया है, जिसमें अव्यवस्थित रूप से उपलब्ध विशाल डाटा भंडार में से उपयोगी डाटा का चयन करके एक तथ्यपरक, प्रभावी एवं सरल न्यूज स्टोरी पाठक के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। शोध आधारित यह 'इन्वेस्टिगेटिव जर्नलिज्म' अधिक समय को खपाने के साथ-साथ टीम वर्क की मांग करती है। डाटा माइनिंग के महत्व को समझते हुए मुख्यधारा की मीडिया के अधिकतर संस्थान इस अवधारणा को अंगीकार कर रहे हैं। पत्रकारिता में डाटा माइनिंग भले एक जटिल प्रक्रिया हो, लेकिन इसके परिणाम स्वरूप सामने आने वाला उत्पाद अपनी एक खास किस्म की विश्वसनीयता के कारण पाठकों में प्रभाव पैदा करने की क्षमता रखता है। आज जब मुख्यधारा के मीडिया पर पक्षपातपूर्ण एवं पूर्वाग्रह से ग्रसित होने के आरोप विश्वसनीयता का संकट पैदा कर रहे हैं, डाटा माइनिंग काफी हद तक इसे इस संकट से उबार सकती है।

लेखक, मीडिया शोधार्थी हैं।